(स्त्री बोध)

नेयाङः आन्ने और आदी स्त्री

पूर्णिमा ओसुनाम तायेङ

नानी मेरी हमेशा मुझसे एक बात कहा करती हैं कि लड़कियाँ 'नेयाङ-आन्ने' (पत्ते) की तरह होती हैं। जिस तरह से वह इस प्रकृति का एक अंश है, लड़कियाँ भी उसी तरह से हैं। लेकिन जैसे प्रकृति के नियम अनुसार किसी पत्ते को पेड़ से या पौधे से हमेशा चिपके रहने की इजाज़त नहीं होती है, उसी तरह स्त्री का जीवन भी होता है और यही दोनों की जीवन-संस्कृति है। वह एक जीवन समाप्त कर दूसरी जगह नया जीवन शुरू करती है। और नानी मेरी यह भी बताती हैं कि-'सेको कोम तानी-अमों सिम दाक्कि सुलाना कामांङ, रुना-पीना बी अतिको मिंकेन बोला तानी- अमो सो ङोलुम पीलेन तुंग, डेम तानी ङोलू मिङकेन बोसुला येबोसुपे आयदुंङ।' अर्थात् "कोई भी मनुष्य संसार के विरुद्ध नहीं हो सकता है। वह स्वयं खुद का निर्माता जरूर है, पर उसे जीवन जिस परम सत्ता ने दिया है उसको नहीं भूलना चाहिए।" वह बताती हैं कि हमारे प्रकृतिजीवी पूर्वजों ने अपने जीवन के नियम इस तरह से तय किए हैं, जो अधिक सार्थक और सतत बने रहने में उपयुक्त है। अतः पुरखाई जीवन के तौर-तरीकों को आदरपूर्वक स्वीकार करना चाहिए। लड़कियाँ या स्त्रियाँ यही करती हैं। वह पत्तियों की भाँति अपनी हरियाली को बनाये रखने की चेष्टा करती हैं। हर तरह की स्थिति-परिस्थिति में पत्तियाँ अपने हरेपन को नहीं खोना चाहती हैं।"

नानी की बात मैं ध्यानपूर्वक सुनती आई हूँ। मुझे लगता है कि जैसे स्त्री ही प्रकृति की छाया हो। स्त्री प्रकृति का ही दूसरा नाम-सा लगती है। अगर ऐसा है तो यह एक कड़वा सच भी है कि पेड़ से बिछड़कर आज तक कोई भी पत्ती अपने हरेपन को नहीं बचा सकी है या इस दुःख में वह फिर पीली पड़ जाती है। अरुणाचल प्रदेश के आदी जनजाति के समाज में स्त्रियों का परिचय पत्तों से तुलना करते हुए दिया जाता है। पत्तों का महत्त्वपूर्ण स्थान आदी जनजाति के पारंपरिक समाज में देख सकते हैं। यह रीत पुरखों से अब तक परंपरा के रूप में अपनाई जाती रही है। यह मुझे अच्छा लगता है कि स्त्रियों की तुलना हमारे आदिवासी समाज में फूलों से नहीं होती है। यह और बात है कि कभी-कभी स्त्री की तारीफ़ में प्रेमी या आने-आबू (माँ-पिता) उसकी तुलना फूलों से कर देते हैं पर बड़े-बुजुर्ग स्त्रियों की तुलना हमेशा पत्तों या नदियों से ही अधिक करते हैं। नदियाँ भी बहने को विवश हैं। वह अथाह जलराशियों का भार लिए हुए यात्रा करती हैं और रास्ते की सभी तरह की भूमियों को सींचने का काम करती हैं। आदिवासी भाषा के लोक-साहित्य में भी स्त्रियों के लिए पत्ते को प्रतीक रूप में चुना गया है। आदी लोकगीतों से लेकर लोक-सुभाषित अथवा मुहावरे-लोकोक्तियों तक में स्त्रियों के लिए पत्ते प्रतीक के रूप में सबसे अधिक इस्तेमाल होते हैं। आदी लोकगीत में एक स्त्री प्रश्न करती दिखती हैं-"आई नों ङोमे ओमे कोपे ओना दे/ङोक्के येपेको एम केन्बी दुनेया/याय नों ङोमे मीमे कोपे ओना दे/ङोक्के येकेङ एम मीबी दुनेया/मीमे नेयांङ ए ङो/.... बानने नेयांङे ङो/मीबो दिते कोन लो/.... ओमुम दिसी दिला येपे।" इसका भावार्थ बेहद मार्मिक प्रसंग को प्रकट करता है- "माँ आपने मुझे बेटी के रूप में जन्मा/क्या मेरे कल के भविष्य का

आपको अनुमान है?/पिताजी आपने मुझे स्त्री के रूप में जन्मा/ क्या मेरे कल के रहने का आपको अनुमान है?/मैं स्त्री-नेयाग हूँ/।।। मैं उपजने वाली नेयोङ हूँ/मेहमानों के पर्वतों में।।। परायी-सी अश्रु बहाती रहूँगी।"

अब कुछ अपने दिल की बात साझा करने मन है। मैंने फूलों की तारीफ सुनी है। हमेशा फूलों की खूबसूरती ही लोगों को सम्मोहित करती है या कि अपनी ओर खींचती है। यक़ीनन फूल बहुत सुंदर होते हैं और उनके रंग भी उसी की तरह प्यारे और बड़े न्यारे होते हैं। कुछ लाल तो कुछ पीले, कुछ नीले नज़र आते हैं। इसी तरह कुछ फूल गुलाबी रंग में मोहक अधिक लगते हैं। इस खूबसूरती का मुख्य कारण उनका ताजेपन से नहाया होना है। इन कारणों से उनकी खूबसूरती की सराहना होती होगी, ऐसा मैं सोचती हूँ। इसके विपरीत पत्तों के पास तो एक ही रंग होता है-'हरा'। यह रंग हमेशा नए और विशेष लगते हैं। यदि इस बारे में विचार करें, तो दिलचस्प बातें मालूम पड़ेंगी। इन पत्तों में जैसे सभी रंगों की छाया हो। यह बदलते हुए मौसमों के साथ अपने रंग और उसकी छाया में बदलाव लाती रहती हैं। वैसे हरा रंग मौन में भी मुखर अधिक है। वह अपने हरेपन में सबसे सुकोमल होते हैं। मुझे फूलों से ज्यादा पत्ते पसंद आते हैं, क्योंकि मौसम के साथ उनके बदलते रंग और अवस्था मुझे अत्यधिक प्रभावित करती है। अगर दोस्त मेरे सामने फूलों की सुंदरता के बारे में बोल रहे होते हैं, तो मैं उनसे पूछती हूँ कि-'तुम्हें पत्ते कैसे लगते हैं? इन फूलों के नीचे भी कई-कई पत्ते हैं-एक-दूसरे से जुड़े हुए, डलियों में भरे हुए। ये पत्तियाँ कई आकारों में एक के ऊपर एक या ऊपर-नीचे गुँथी मिलती हैं, ये तुम्हें कैसे लगते हैं?' दरअसल, पत्ते भी कई प्रकार के होते हैं। कुछ छोटे तो कुछ बड़े। कुछ हरे तो कुछ पीले। पेड़ों की टहनी में ये बहुत प्यारे लगते हैं। हर पत्ते अपने-आप में एक खास तजुर्बे को इंगित कर रहे होते हैं। पत्तियाँ अपने हरे रंग को नहीं छोड़ना चाहती हैं। उनमें एक रस-गंध बसा होता है जैसे वे कोई जीव-द्रव्य हों। विज्ञान कहता भी है कि पत्तियाँ भोजन बनाने में जुटी होती हैं। इस समिधा में पत्तियाँ क्या-क्या जतन नहीं करती हैं। वह श्रमशील हैं और जिनका काम जीवन की निरंतरता को बनाए रखना है। शायद इसीलिए नए पत्ते हरा रंग लिए हुए प्रकट होते हैं और बेहद खूबसूरत दिखाई देते हैं। उसके हरेपन में ही फूलों के प्राण उमगते हैं। पत्तियाँ ही हैं जो फूलो को उसके रंग निखारने में सहयोग करती हैं। सच तो यही है कि पत्तों की हरियालो की गोद में ही फूलों की नन्हीं और रंगबिरंगी कलियाँ खिला करती हैं। ये बातें कितनी माकूल हैं और स्त्रियों से कितनी मेल खाती हैं।

आदी समाज की स्त्रियों के लिए ऐसे कई किस्से-कहानियाँ तथा उपदेश मौजूद हैं, जिसे बड़े-बुजुर्ग (नानी-दादी लोग) किसी फुर्सत के दिन देखकर हम बच्चों को 'तुङगु' (बरामदा) पर इकट्ठा कर लेते। नानी रात की चांदनी में वे अक्सर बड़े इत्मिनान से बताया करती थीं। वह हमेशा हमें आलसी न होने की सीख दिया करती थीं। वे बताती थीं कि इस संसार में आलसियों और दुष्टों के लिए कोई जगह नहीं है। इसीलिए हमें 'मिलो-आर्दा' (आज्ञाकारी और श्रमशील) और दूसरों के प्रति 'दोन्यी-दादे' (दिल से निर्मल और दयावान) होना चाहिए। कभी-कभी वह बेहद रोचक कहानियों के बहाने हमें हमारे आगे की जीवन से जुड़ी बातें बतातीं और उनसे रू-ब-रू कराती थीं। हमारी बढ़ती रुचियों को देखकर वह कई सारी कहानियाँ सुना जाती थीं। ऐसे ही कई कहानियाँ रात के समय चाँदनियों के बीच यादों के माध्यम से कहती जातीं थीं और हम बड़े ठाट से सुनते हुए आनंद उठाया करते थे। वे कहानियाँ मेरे जीवन में आज भी बनी हुई हैं। यह हमें जीवन जीने का मकसद देती हैं और पूर्व बीते अनुभव के माध्यम से हमें अपना जीवन सुगम और सरस बनाने का पाठ पढ़ाती हैं।

आदी समाज की स्त्रियों में प्रकृति उनके संग-साथ के सहजीवन में ही नहीं अपितु उनके व्यवहार और व्यक्तित्व में भी दिखाई पड़ते हैं। सुनी हुई कहानियाँ सच से साक्षात्कार कराती मालूम देती हैं और कई सावधान, सचेत और सतर्क भी किया करती हैं। ये बातें रोजमर्रा के जीवन और व्यवहार में घुलमिल गईं हैं जिसे मैं अपनी व्यक्तिगत उपलब्धि मानती हूँ। सामान्यतः स्त्री अपने बागान-बगीचों, खेती-बारी, घर-परिवार और जीव-जंतुओं के लिए सदैव चिंतित और उनकी ही फिक्र में निहाल दिखाई देती हैं। वह अपने बच्चे के लिए हमेशा तत्पर और उसकी सुरक्षा में तैनात रहती हैं। आज भी मेरी माँ मुझे चूल्हे पर खाना-पकाना सिखाती है, तब वह मुझसे हमेशा एक बात का ध्यान रखने को कहती है कि चावल का दाना 'पकिंग' (बर्तन) के मुँह से बाहर नहीं गिरना चाहिए और आग पर तो बिल्कुल नहीं।' मैंने माँ से तुरंत पूछा-"क्यों? ऐसा हुआ तो क्या होगा?" माँ ने बताया कि "आम्बिन-एम इपाक-इयाक मिल आम्बिन-ए-कोम कापदुनायके, मीरे सुदुनाय के" अर्थात चावल को ठीक तरह से इस्तेमाल नहीं करने से वे भी दुखी होकर रोते हैं और निराश हो जाते हैं कि उन्हें बड़ी मेहनत से खेत में उगाकर भी उनको ठीक तरह से ग्रहण नहीं किया गया और वह इस बात से बेहद दुःखी और भावुक हो जाते हैं।

स्त्रियाँ भावुक मात्र नहीं होती हैं। बल्कि हर तरह की भावनाओं का वह तहेदिल से स्वागत करती हैं। स्त्रियाँ उदारशील होकर हर तरह के भाव को सहेजने और संजोने का संवेदनशील प्रयास करती हैं। वह अपनी स्त्रियोचित भाषा में प्रकृति ही नहीं अपितु हर चीज से तादात्म्य बिठाती चलती हैं। अरुणाचल प्रदेश की आदी स्त्रियों का शिष्ट आचरण अपने आपमें उदाहरण है। आदी स्त्रियाँ संबंधों का कद्र करती हैं। प्रेम को चिह्नती और बखूबी पहचानती हैं। उनका प्रकृतिजीवी आदिवासी मन प्रकृति के नियमों में रींझा-भींजा होता है। वह प्रकृति के छाये में नहीं अपितु प्रकृतिधर्मी होकर अपना जीवन जीते हैं। अगर वे कहीं किसी मौके पर 'इमोशनल' हैं तो ये उसका प्राकृतिक स्वरूप और मूल स्वभाव है। गाँवों या बस्ती में अधिकतर आदी समाज की स्त्रियाँ तल्लीनता के साथ अपने काम में जुटी दिखती हैं। वह घर पर बैठ आराम कम ही कर पाती हैं। वह घर के काम निपटाकर खेती-कार्य में व्यस्त हो जाती हैं, क्योंकि उनको अपने खेत में उपजाए हुए फसल की देखभाल और निगरानी करना होता है। इसलिए वह इन कार्यों को परे छोड़कर न तो हट सकती हैं और न ही बेसुध हो पाती हैं। आदी जनजाति की घरेलू स्त्रियाँ खेतों पर जाती हैं, तो उन्हें यह अंदाजा लगाते देर नहीं लगती कि आज कितनी भिंडी, बैंगन, मूली, अदरख, मिर्च इत्यादि उगे हैं या हरी सब्जियाँ तोड़े जाने के लिए तैयार हैं। यदि उन्हें वह आज ही ना तोड़ सकीं, तो जंगली सूअर या अन्य जानवर उनको नष्ट कर देंगे। या फिर बारिशों में भींग कर वह सड़ जाएँगी। आदी गाँव-बस्ती की स्त्रियाँ काफी श्रमशील होती हैं। पहाड़ी जीवन ने उनके पाँव में मजबूती और अदम्य साहस रोप दिया होता है। इन स्त्रियों को इस बात का न तो अहंकार या झूठा दंभ होता है कि उनमें श्रम की क्षमता अधिक और बेजोड़ है। वह अकुंठ भाव से अपने हर कार्य को बड़ी कुशलता एवं परिश्रम के साथ करती जाती हैं। मेरी भाभी गाँव में रहती हैं। मैंने आज तक उन्हें कभी आराम करते हुए नहीं देखा। वे या तो खेत गई होती हैं या घर के कार्य निपटाने में मगन होती हैं। उनसे जब भी पूछती हूँ कि आपको थकान बहुत होती होगी? आप कुछ आराम कर लिया करें, तो मुस्कुराती हुई कहती हैं-'डो एनपे लगियेदा, ऐनममिल सियुम ओयिङ दोपेनाम कामा येडा।' अर्थात आज यदि मैं नहीं गई तो खाने को घर पर सब्जी नहीं होगी।

आदी स्त्रियों की खूबियाँ बेशुमार हैं। वे जितनी श्रमशील प्रकृति की और शारीरिक श्रम करने में कुशल होती हैं, उतनी ही कला-शिल्प, हस्तकला, दस्तकारी, बागवानी, साज-सज्जा आदि में निपुण होती हैं। पारंपरिक

परिधानों में नये-नये प्रयोग करना आदी स्त्रियों का प्रिय शगल है। इसी तरह वे अनेकानेक कलाकृतियाँ बनाने में पारंगत होती हैं जिसका परिज्ञान उन्हें परंपरा से हुआ होता है। आदी त्योहारों के मौके पर स्त्रियों की असल सुंदरता देखी जा सकती है। वे समूह के साथ चलती हुई, नृत्य करती हुई, हड़बड़ाहटों एवं चीख-चिल्लाहटों के बीच गति करती हुई कमाल की लगती हैं। गीतों की धुन में उनका प्रदर्शन मोहक और उनकी मुद्राएँ आकर्षक हो जाती हैं। उनके इस तरह बन-ठन कर त्योहार में शामिल होने से गाँव का माहौल खुशनुमा हो जाता है, मानों उसकी रूह लौट आई हो। स्त्रियाँ पुरुषों से अलग भाव-भंगिमा और रूप-रंग गढ़े हुए इधर से उधर दौड़ती-भागती तथा एक-दूसरे के घर आना-जाना करती हैं। हर-बार की तरह वे अपने घर के पास से अपने सहेलियों को चिल्लाकर पुकारती हैं। उनके इस चिल्लम-चिल्लाई से गाँवों का सूनापन दूर हो जाता है। गलियाँ गूँज उठती हैं, तो रास्ते की रौनक देखते बनती है। इन त्योहारों के समय आदिवासी स्त्रियाँ खेती-बारी के काम नहीं करती हैं। आदी समाज में इन दिनों कृषि-कार्य करने की मनाही है। इसके लिए आदी भाषा में 'न्योनाम' शब्द प्रयुक्त है। इस नियम को गाँव के सब लोग मानते हैं और निभाते भी हैं।

'सोलुङ' आदी समाज का एक खास त्योहार है। यह विशेष रूप से खेतों में उपजाए गए धानों के लिए मनाया जाता है। इस त्योहार में स्त्रियों का महत्त्व खास होता है। सोलुङ आदी जनजाति का मुख्य त्योहार है। पहाड़ों में बसे 'आदी-आमोङ' (पहाड़ी क्षेत्र) लोग इस त्योहार को 7-8 दिन तक मनाते हैं जबकि नीचे बसे 'मोङगु आमोङ' (मैदानी क्षेत्र) के लोग इसे 4-5 दिन तक मनाते हैं। सोलुङ को अगर दूसरे नाम से पुकारा जाये तो इसे 'लुने-गीदी' (महिलाओं का त्योहार) भी कहा जाता है। इस त्योहार को धूमधाम से मनाये जाने हेतु गाँव के सभी लोगों को स्मरण कराया जाता है। आपस में संपर्क किया जाता है। सभी को एक साथ जुटने या इकट्ठा होने हेतु बुलाया जाता है। नौकरी के कारण जो लोग गाँव से बाहर यानी दूर रह रहे होते हैं, उन्हें विषेष रूप से आमंत्रित किया जाता है, ताकि नई पीढ़ी के युवा लोग अपनी परंपरा और संस्कृति से जुड़ सकें, प्रत्यक्ष अनुभव कर पायें। यह सामूहिक एकजुटता सोलुङ त्योहार की सफलता को भी सुनिश्चित करती है। यही एक ऐसा समय है जब गाँव की युवा-स्त्रियाँ सज-धज कर या स्वयं को पारंपरिक वेश में आभूषणों से सुसज्जित कर के बाहर निकलती हैं। पोशाक-पहनावे में आदी स्त्रियाँ लाल रंग की गाले पहनती हैं। उनके माथे पर गाले से बनाए मुकुट होते हैं जिसे धारण किए होने से उनके चेहरे पर एक अलग तरह का निखार आ जाता है और वह बेहद सुंदर प्रतीत होती हैं। त्योहार वाले मौके पर वे दिन भर सोलुङ मैदान पर मौजूद होती हैं। उत्सव का आनंद लेती इन स्त्रियों के होने से आदिवासी पहचान और अस्मिता को गौरवान्वित होने का अवसर मिलता है। इस समय रोज तरह-तरह के आयोजन होते हैं। जैसे-नृत्य, गीत-संगीत, फुटबाल या अन्य खेल-कूद की प्रतियोगिता आदि। फिर इस रात को 'मुसुप' पर 'पोनुङ' नृत्य होता है। नव-युवतियाँ अपने पारंपरिक परिधानों में एकत्र होती हैं। फिर आधी रात तक पोनुङ नृत्यों का सिलसिला चलता रहता है। रात में इस नृत्य का दृश्य बेहद अद्भुत और विभोर कर देने वाला होता है क्योंकि यहाँ एक ऐसा माहौल रहता है, जहाँ गाँव के एक-एक सदस्य इकट्ठे रहकर इस उत्सव का आनंद ले रहे होते हैं। मुसुप में बच्चे से लेकर बूढ़े तक वय के लोग नाच-गाने में जुटे होते हैं। स्त्रियों के बीच खड़े 'मिरी' (पुरोहित) 'आबांग' (महागाथा) सुना रहे होते हैं। इसके इर्द-गिर्द जुटी स्त्रियाँ एक-दूसरे का हाथ पकड़े रहती हैं। गोलाकार रूप से वह आपस में हाथ मिलाकर खड़ी 'मिरी' के लिए लगातार हामी भरने

का काम करती हैं। इससे मिरी के कहे गीतों को बल मिलता है और वह उत्साहित होकर अपनी महागाथा कहना जारी रखते हैं।

यह दृश्य इतना अद्भुत होता है जैसे शाम के किसी समय में पर्वतों के बीच सूरज डूबने की तैयारी कर रहा हो। नारंगी-सा गोलाकार सूर्य का घेरा बनाए वे धीरे-धीरे उसकी लालिमा में इज़ाफा करने में जुटी हुई हों। पोनुङ नृत्य का यह सिलसिला अगले तीन रात लगातार जारी रहता है। नानी से एक बार मैंने 'आबाङ' के बारे में पूछा था। उन्होंने जवाब में बताया था कि 'आबाङ' कई तरह के होते हैं। पर पोनुङ वाले 'आबाङ' पर मिरी द्वारा जो गीत सुनाया जा रहा होता है, वह जीवन का एक लंबा गीत है जिसमें स्त्रियों के लिए एक बहुत बड़ा और महत्त्वपूर्ण कथानक का हिस्सा रहता है। इसीलिए जो स्त्री पोनुंग नृत्य कर रही होती हैं, उसे अनिवार्य रूप से यह कहा जाता है कि वह इस नृत्य में शुरू से आखिर तक बनी रहें। नहीं तो उनका जीवन पूरा होकर भी अपूर्ण होगा या जीवन में अधूरापन सताएगा। आदी जनजाति का मानना है कि पोनुङ नृत्य करना कोई बच्चों का खेल नहीं है। यह माना जाता है कि इसके लिए अपार धैर्य की जरूरत होती है। इसीलिए यह अपेक्षा होती है कि इस पोनुङ नृत्य में ज्यादा से ज्यादा गाँव की युवा स्त्रियाँ शामिल हों, ताकि माहौल आनंदपूर्ण बना रहे।

आदी समाज की स्त्रियों का महत्त्व केवल त्योहारों तक ही सीमित नहीं होता है, अपितु उनका महत्त्व गाँव के हर एक छोटे-बड़े मौके पर विशेष होता है। आदी जनजाति के विभिन्न रीति-रिवाजों, नियम-प्रथा को निभाने में उनकी भूमिका बढ़-चढ़ कर होती है। कई बार जब पुरुष 'आपता-गता' (जंगली-शिकार) के लिए निकल रहे होते हैं तो महिलाएँ पुरुषों के लिए 1-2 दिन 'न्योलिकदुङ' (मनाही) करती हैं जैसे उस वक़्त गाले नहीं बनाना, सुई धागा नहीं पिरोना, धागा नहीं छूना इत्यादि नियम का पालन करती हैं। ऐसी मान्यता है कि ऐसा करने से अपशकुन होता है। आदी महिलाएँ इन नियमों का रस्म करते वक़्त गंभीर होती हैं, तो दूसरी ओर किसी नये घर के उद्घाटन के मौके पर या 'डाङा-आरान' तथा 'निलुम' जैसे अवसर पर 'महिला-समूह' (रासेंग-पार्टी) को खास तौर पर आमंत्रित किया जाता है, ताकि उद्घाटन समारोह में खुशहाली और रौनक लायी जा सके। इस घड़ी 'महिला-समूह' से एक नेतृत्वकर्ता (जो अनुभवी और होशियार हो) होता है जो अपने समूह का नेतृत्व करता है। ऐसे माहोल के दौरान महिला समूह के द्वारा कई लोक-गीत गाये जाते हैं जिनमें से कुछ उनके अनुभव की कथा या आपबीती-सी होती हैं तो कुछ मस्ती बिखेरने के लिए मनोरंजक ढंग से गाया जाता है। आदी समाज का लोक-गीत उनके रोजमर्रा के जीवन एवं प्रत्यक्ष अनुभव से संबद्ध होता है। उसके बोल भावपूर्ण और शब्द गहरे अर्थ को पिरोये हुए होते हैं। ऐसे ही अवसरों पर लोकगीतों की प्रासंगिकता एवं महत्त्व देखते बनता है। अपने समय में नानी के द्वारा ऐसा ही एक गीत गाया गया था, जिसे उन्होंने मुझे अपनी यादें साझा करते हुए सुनाया था-

''आङोङ-ए (हे सखी!)
लेरो-गो-गोई.... (सुर और ताल है)
लेन-तो-ला (बाहर निकल आओ)
लेरो-गो-गोई
एङो-तारो-ए (छोटी-बड़ी मछलियां)
लेरो-गो-गोई

सिगो-ले-लो (नदी-धाराओं में)
एलो-रेनुङ-ए (वहाँ पर हम लोग)
ले-रो-गो-गोई
नुमान-लाङ-कापे (नृत्य करने चलते हैं)''

सदियों से आदी समाज की स्त्रियाँ अपने लोक-जीवन को व्यवहारों में जीती आई हैं। लोकगीत उनके कंठाहार में बसते हैं। आदी स्त्रियों का श्रमशील होना महज पारंपरिक संस्कार नहीं है, बल्कि वे स्वयं को प्रकृति के साथ संगत एवं लयबद्ध कर जीती दिखती हैं। प्रकृति के साथ आदी स्त्रियों का जुड़ाव अटूट भी है, तो 'नेयाङ आन्ने' की तरह हरेपन से भरा हुआ भी। उनके द्वारा गाए जाने वाले गीत इस बात के साक्षी हैं कि वह प्रकृति की समानधर्मा विराट हैं और सूक्ष्म भी। उनके भावों की कई परतें हैं जिसमें जितनी जानी हुई हैं, उससे कहीं अधिक अपरिचित हैं। इसीलिए आदी लोक-गीतों में स्त्रियों के चित्रण-वर्णन बहुत हैं। बस अंतर इतना है कि आदी जनजाति की ही उपजनजातियों की स्त्रियाँ इसे अलग-अलग रूपों में गाती हैं। दरअसल, इन्हें पहले से ही जानकर लिपिबद्ध या स्वरबद्ध नहीं किया जा सका है, इस नाते भिन्नता इनकी खासियत बन चुकी है। मेरी नानी जो गाती हैं, उसमें कुछ चीजें संलाप की तरह होता है। खुद को संबोधित इन गीतों में नानी अपने होने का प्रमाण ढूँढ़ती हैं और प्रकृति के सहकार संग अपने जीवित होने की पुष्टि करती हैं। उनकी इस उम्मीद में एक ऐसे फूल की छवि भी है जिसे देखते हुए वह अपने पुराने दिन याद करने लग जाती हैं। वह जो बोलती हैं उसे मैं पूरी तरह नहीं समझ पाती हूँ, लेकिन इतना समझ लेती हूँ कि इनके कहे का भावार्थ गहरा और आत्मीय है। वह गाती हुई कहती हैं-

"आबा बोमोङ लोङएम, पारो लोङम
बोमोङ सासारे सादाक ताकामेम
पारो सासारे सादाक ताकामेम
बोमोङ लामकाङ-एम दुया तिनासी
पारो लामकाङ-एम दुया तिनासी
मितिक आने-सी मितिक काममे
लामकाङ-एम दुया तिनासी।"

लोकगीतों की भाँति ही आदी समाज की कथा-कहानियाँ, मिथक-बिंब, संस्कार-संस्कृति आदि समृद्ध रूप में इन गीतों में विद्यमान हैं। आदी स्त्रियाँ इन्हीं को आज भी अलग-अलग तरीके से दोहरा रही हैं, उन्हें अपनी भाषा-बोली में पुनर्जीवित कर रही हैं। आदी भाषा-बोली में लोक-साहित्य बहुत सरल ढंग से रचे-बुने होते हैं। जैसे आदी स्त्रियों का व्यवहार और उनका स्वभाव। सदियों से आदी समाज की स्त्रियाँ संघर्ष और परिश्रम की अकथ कहानी कहती आई हैं। उनकी हथेलियाँ खुरदुरी और पाँव बेवाई फटे हुए अवश्य हैं, लेकिन उनकी प्रकृति शक्तिस्वरूपा और दिव्य है। यही नहीं आदी स्त्रियाँ घर-आँगन की सजावट से लेकर जंगल सफा करने और अन्न उपजाने तक अपनी भूमिका सर्वोपरि बनाई हुई हैं। निराई किए हुए खेत और उनमें लहराते हुए धान आदी स्त्रियों के हाथों का करिश्मा साकार करते दिखते हैं। यह आदी स्त्रियों के श्रमिक और गुणी होने का साक्षी है। आदी स्त्रियों की भावनाएँ आज भी खेतों, नदी, नालों, पहाड़, घाटियों, पशु, पक्षियों आदि से लय करते हुए मालूम देते हैं। हरितिमा के गहने पहनी प्रकृति स्त्रियों के महाबली होने का प्रमाण देती हैं। 'सिंयाङ-आने' स्वयं साक्षी है,

आदी भावभूमि के कण-कण इस बात की गवाही देते हैं। इस मौके पर अरुणाचल प्रदेश की सुपरिचित लेखिका जोराम यालाम की कही ये पंक्तियाँ माकूल लगती हैं-

"तुम साक्षी हो, मेरे हर एक तड़प का
एक वेदना है, मेरे लिए तुम्हारे न तड़पने का
तड़पते हो मेरे लिए, लेकिन वे मेरे लिए तो नहीं है
सुनो दो किनारों की कहानी है, बहता हुआ यह जल
बूंद हूँ मैं, मुझसे ही नदी और समंदर है
समंदर का नदी को, और नदी को मेरा इनकार है?"

*(**लेखकीय परिचय**: पूर्णिमा ओसुनाम तायेङ राजीव गाँधी विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग से परास्नातक और पीजीडीएफएच पाठ्यक्रम पूर्ण कर चुकी हैं। मोबा: 8413951094, ई-मेल : kimp2976@gmail.com)*